विचार संगम

भारतीय दर्शन, विज्ञान, साहित्य-कला और तकनीकी के विशेष संदर्भ में

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

विचार संगम

भारतीय दर्शन, विज्ञान, साहित्य-कला और तकनीकी के विशेष संदर्भ में

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001

प्रकाशक :

पुष्पा शर्मा

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,

लोहाखान, अजमेर-305001

ई-मेल : bnbajmer@gmail.com

संस्करण

प्रथम 2025

ISBN : 978-81-993854-0-5

मूल्य - 400/-

रचना - विचार संगम-भारतीय दर्शन, विज्ञान, साहित्य-कला और तकनीकी के विशेष संदर्भ में

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

मुद्रक - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

15

समकालीन भारतीय चिन्तन में शिक्षा दर्शन

डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से 20वीं शताब्दी तक का समय भारत में समकालीन चिन्तन का काल रहा। यह काल राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और शैक्षिक पुनर्जागरण का युग था। इस समय के प्रमुख चिन्तक — महर्षि दयानन्द सरस्वती, महर्षि अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गांधी ने भारतीय शिक्षा को नई दिशा दी।

ब्रिटिश शासन ने 1835 में लॉर्ड मैकॉले के माध्यम से अंग्रेजी शिक्षा लागू की, जिसका उद्देश्य भारतीयों को मानसिक रूप से गुलाम बनाना था। बाद में चार्ल्स वुड के डिस्पैच (1854) ने आधुनिक शिक्षा की रूपरेखा तैयार की, और 1857–58 में कलकत्ता, मद्रास, बम्बई विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इससे पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार तो हुआ, पर भारतीयता की जड़ें कमजोर पड़ने लगीं।

इसी के विरोध में नवजागरण के आंदोलन — ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज और काँग्रेस उभरे। इन आंदोलनों ने शिक्षा को भारतीय संस्कृति, स्वाभिमान और सामाजिक सुधार से जोड़ा।

महर्षि दयानन्द ने वेदाधारित, नैतिक और स्वदेशी शिक्षा की वकालत की। महर्षि अरविन्द ने शिक्षा को आत्मविकास और आध्यात्मिक उन्नति का साधन माना। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने प्रकृति, कला और स्वतंत्रता पर आधारित मानवतावादी शिक्षा का प्रतिपादन किया। महात्मा गांधी ने 'नयी तालीम' के माध्यम से श्रम, स्वावलम्बन और नैतिकता को शिक्षा का केन्द्र बनाया।

समकालीन भारतीय शिक्षा दर्शन का उद्देश्य था — ऐसी शिक्षा व्यवस्था की स्थापना जो भारतीय संस्कृति, आत्मनिर्भरता, नैतिकता और राष्ट्रभक्ति पर आधारित हो तथा जो व्यक्ति और समाज दोनों के विकास का माध्यम बने।

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध भारतीय समाज के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण काल था। यह वह समय था जब भारतीय संस्कृति, धर्म और सामाजिक संरचना पर विदेशी शासन, ईसाईयत तथा इस्लामी प्रभावों का गहरा संकट मंडरा रहा था। इसी काल में स्वामी दयानन्द सरस्वती का अवतरण हुआ, जो भारतीय सांस्कृतिक जीवन की आकाशगंगा में एक तेजस्वी, द्युतिमान प्रकाश बनकर प्रकट हुए। वे कर्मठ, सक्रिय

और जागरूक संत थे जिन्होंने भारत के सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और शैक्षिक जीवन के सभी आयामों को गहराई से प्रभावित किया।

इमर्सन के शब्दों में – ''प्रतिभा से उत्पन्न विचार और विश्व की पवित्रता, विश्व में परिवर्तन कर देती है।'' यह कथन स्वामी दयानन्द पर पूर्णतया लागू होता है। वे केवल धर्मगुरु ही नहीं, बल्कि भारत के पुनर्जागरण के प्रेरक थे। उस समय हिन्दू समाज अंधविश्वास, जातिभेद, अनाचार और धार्मिक पतन में फंसा हुआ था। स्वामी दयानन्द ने इस पतनशील समाज को वेदों के आधार पर नवजीवन प्रदान किया।

उन्होंने देखा कि अंग्रेजों द्वारा प्रवर्तित मैकाले की शिक्षा-पद्धति भारत के पतन का कारण बन रही है। यह शिक्षा भारतीयों में हीनभावना, परावलम्बन और संस्कृतिविहीनता उत्पन्न कर रही थी। अंग्रेज़ी शिक्षा नीति से भारतीय भाषा, संस्कृति, राष्ट्राभिमान और नैतिकता का ह्रास हो रहा था। स्वामी जी ने समझ लिया कि विदेशी शिक्षा से भारत का उद्धार संभव नहीं है।

उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में आर्ष पद्धति अर्थात् वेदाधारित आश्रम शिक्षा प्रणाली को पुनर्जीवित करने का आह्वान किया। उनका मानना था कि भारतीय बालक तभी सच्चे अर्थों में राष्ट्रभक्त और नैतिक नागरिक बन सकते हैं जब उन्हें अपनी स्वभाषा, स्वसंस्कृति और स्वधर्म में शिक्षित किया जाए। उन्होंने अपने ग्रंथों, भाषणों और पत्रों के माध्यम से इस शिक्षा-दर्शन की रूपरेखा प्रस्तुत की और इसके प्रचार-प्रसार में अपना जीवन समर्पित किया।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने उन्हें 'आधुनिक भारत का महान पथनिर्माता' कहा, जबकि श्री अरविन्द घोष ने उन्हें 'व्यक्तियों और संस्थानों के मूर्तिकार' की संज्ञा दी। सुभाषचन्द्र बोस ने आर्यसमाज को भारतीय समाज के पुनर्निर्माण और सुधार का अत्यंत प्रभावकारी माध्यम बताया।

(1) महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनका शिक्षा दर्शन :- महर्षि दयानन्द सरस्वती उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय नवजागरण के प्रणेता, वेदों के परम ज्ञाता और आर्य समाज के संस्थापक थे। वे केवल धार्मिक सुधारक ही नहीं, बल्कि महान शिक्षाशास्त्री, मानवतावादी, राष्ट्रनिर्माता और नारी-उद्धारक भी थे। उनके शिक्षा-दर्शन में भारतीय संस्कृति, नैतिकता, स्वावलम्बन और सर्वांगीण विकास का अद्भुत समन्वय मिलता है।

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में शिक्षा केवल ज्ञानार्जन या बुद्धिविकास का माध्यम नहीं, बल्कि जीवन-पद्धति है, जो व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, चारित्रिक और व्यावसायिक विकास का मार्ग प्रशस्त करती है। उन्होंने शिक्षा को ऐसा साधन

माना जो समाज में आमूल परिवर्तन ला सकती है। उन्होंने वेद–वचन 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद' (शतपथ ब्राह्मण) को उद्धृत करते हुए कहा कि शिक्षा का प्रथम गुरु माता है, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य। जब यह तीनों अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं, तभी व्यक्ति सच्चे अथोज़्ं में ज्ञानवान् बनता है।

महर्षि दयानन्द ने शिक्षा का आरम्भ बालक के अक्षराभ्यास से नहीं, बल्कि उसके जीवन के आरम्भिक संस्कारों और विकासात्मक प्रक्रिया से माना। उनका मत था कि शिक्षा गर्भ से ही प्रारम्भ होती है और जीवनभर चलती है।

उन्होंने अपने ग्रंथों में वैदिक आश्रम या गुरुकुल शिक्षा–पद्धति को सर्वोत्तम बताया। इस पद्धति को उन्होंने 'आर्ष पाठविधि' नाम दिया, जो प्राचीन ऋषि–मुनियों द्वारा प्रवतिज़्त थी। इस प्रणाली में ज्ञान का उद्देश्य केवल रोजगार नहीं, बल्कि चरित्र–निर्माण, आत्मबोध और समाज की सेवा था।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा को मानव निर्माण का सर्वोच्च साधन माना। उनके अनुसार शिक्षा व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक विकास का माध्यम है। उन्होंने प्राचीन भारतीय मनीषा की उस परम्परा को पुनर्जीवित किया जिसमें शिक्षा को धर्म और नैतिकता के समकक्ष माना गया है। तैत्तिरीयोपनिषद में वर्णित स्नातकोत्तर उपदेशों की भाँति, स्वामी दयानन्द की शिक्षा–व्यवस्था भी व्यक्ति के भौतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त करती है।

महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित प्रमुख शैक्षिक मान्यताएँ –

1. सबके लिए शिक्षा का अधिकार
2. शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का अभ्युदय (उन्नति), राष्ट्रसमृद्धि और मोक्षप्राप्ति।
3. धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता
4. गुरु–शिष्य संबंध
5. सहशिक्षा का विरोध
6. शिक्षण संस्थान का वातावरण
7. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा, हिन्दी और संस्कृत में
8. विद्याओं का समन्वय
9. राष्ट्रीयता की स्थापना

स्वामी दयानन्द का उद्देश्य था— विद्यार्थियों में वेदों के प्रति बौद्धिक विश्वास और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास, राष्ट्र की सांस्कृतिक विरासत के प्रति गर्व की भावना, नैतिकता, आध्यात्मिकता, शारीरिक स्वास्थ्य और आत्मबल का निर्माण।

आर्य समाज की शिक्षा में लोकतांत्रिक मूल्य, नीतिशास्त्रीय और आध्यात्मिक मूल्य, राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय एकता, स्वावलम्बन तथा वैज्ञानिक दृष्टि निहित थी।

रोम्यां रोलाँ ने उचित ही कहा— ''महर्षि दयानन्द की शिक्षा व्यवस्था से भारतीयों का प्रथम नवजागरण हुआ।''

मैक्समूलर ईसाइयत के प्रचार को भारत के लिए आवश्यक मानता था, जबकि महर्षि दयानन्द ने इसका विरोध करते हुए प्राचीन भारतीय शिक्षण परम्परा को पुनर्जीवित करने का संकल्प लिया। उन्होंने वेदों को ईश्वर की सार्वभौमिक वाणी बताया जो सभी के लिए समान रूप से उपलब्ध हैं। स्वामी दयानन्द ने नारी-पुरुष दोनों को वेदाध्ययन और शिक्षा का समान अधिकार दिया तथा कहा कि कोई भी बालक-बालिका अशिक्षित न रहे — यह समाज और राज्य का नियम होना चाहिए। उन्होंने शिक्षा को सर्वोपरि कर्तव्य माना और राजा, माता-पिता तथा समाज सभी को इसके लिए उत्तरदायी ठहराया।

शिक्षा का आरम्भ उन्होंने 'अक्षरारम्भ संस्कार' से माना और बालक की जिज्ञासा को शिक्षण की आधारभूमि बताया। वे मानते थे कि शिक्षा जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है, परन्तु 25 वर्ष तक की औपचारिक शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। उनके अनुसार — विद्या का प्रचार, अविद्या का नाश, और स्वाध्याय-प्रवचन जीवन के श्रेष्ठ कार्य हैं। स्वामी दयानन्द का उद्देश्य था — एक भी व्यक्ति अशिक्षित न रहे।

स्वामी दयानन्द ने शिक्षा को सर्वसुलभ और सर्वजन हेतु अनिवार्य बताया। उनके अनुसार अछूत, दलित, स्त्री या पुरुष—सबको समान रूप से शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। उन्होंने माता-पिता, आचार्य और समाज को यह सर्वोच्च कर्तव्य बताया कि वे सन्तानों को उत्तम शिक्षा, विद्या और सद्‌गुण प्रदान करें।

उन्होंने कहा कि विद्या सबसे बड़ा धन है, जिसकी रक्षा और वृद्धि राज्य तथा प्रजा—दोनों का कर्तव्य है। स्त्री-पुरुष समान रूप से बालक-बालिकाओं को शिक्षित करें, यह उनका स्पष्ट मत था। स्वामी जी के अनुसार माता-पिता का परमधर्म और कीर्ति का कार्य यही है कि वे तन, मन और धन से अपने बच्चों को विद्या, धमज़्, सभ्यता और संस्कारों से सम्पन्न बनाएं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती से पूर्व भारतीय राष्ट्रवाद मुख्यत: अंग्रेजी शिक्षित मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों तक सीमित था, जिनकी सोच यूरोपीय उदारवाद से प्रभावित थी। उनका राष्ट्रवाद भारत की जड़ों से रहित था। स्वामी दयानन्द ने भारतीयों को यह अनुभव कराया कि वे गौरवशाली परंपरा के उत्तराधिकारी और एक महान राष्ट्र के अंग हैं। उन्होंने भारतीयों को अपने धर्म, संस्कृति और भाषा पर गर्व करना सिखाया।

उन्होंने शिक्षा को इस प्रकार परिभाषित किया— जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, और जितेन्द्रियता की वृद्धि हो तथा अविद्या जैसे दोष नष्ट हों। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और नैतिक विकास में निहित है।

दयानन्द ने कहा कि बचपन से ही ईश्वर-चिन्तन और गायत्री-मंत्र का अभ्यास कराया जाना चाहिए, क्योंकि इससे मन की एकाग्रता और आन्तरिक शांति प्राप्त होती है।

स्वामी दयानन्द के अनुसार शिक्षा समाज में परिवर्तन की गति को तीव्र करती है और मानवीय व्यवहार के प्रतिमानों को सुधारने का सवोज़्तम साधन है। इस प्रकार उन्होंने शिक्षा को व्यक्तिगत उन्नति और सामाजिक परिवतज़्न—दोनों का आधार माना।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का शिक्षा दर्शन आर्यसमाज के सामाजिक व वैयक्तिक उद्देश्यों से गहराई से जुड़ा हुआ है। आर्यसमाज का ध्येय समाज के हित के साथ व्यक्ति के कल्याण को भी सुनिश्चित करना था, क्योंकि समाज और व्यक्ति के हित एक-दूसरे के पूरक हैं। महर्षि दयानन्द ने अपनी शिक्षा प्रणाली को धर्म, नैतिकता और चरित्र-निर्माण पर आधारित किया।

उनके अनुसार शिक्षक (आचार्य) केवल ज्ञानदाता नहीं, बल्कि विद्यार्थियों के शरीर, मन, हृदय और चरित्र के निर्माता हैं। उन्होंने शिक्षा का माध्यम हिन्दी और संस्कृत को माना, साथ ही अंग्रेज़ी व पाश्चात्य ज्ञान की उपयोगिता को भी स्वीकार किया। वे पूर्वी और पाश्चात्य अध्ययन के संतुलन के पक्षधर थे। इसी विचार से प्रेरित होकर आर्यसमाज ने दयानन्द एंग्लो वैदिक विद्यालयों, महाविद्यालयों और गुरुकुलों की स्थापना की, जिससे प्राचीन और आधुनिक शिक्षा का समन्वय संभव हुआ।

दयानन्द के अनुसार माता, पिता और आचार्य मनुष्य के तीन प्रमुख शिक्षक हैं, जिनसे व्यक्ति विद्वान, धर्मात्मा और सदाचारी बनता है। आचार्य का आचरण स्वयं धर्मयुक्त, सत्यनिष्ठ और विनम्र होना चाहिए। उन्होंने कहा कि विद्यार्थियों को अनुशासन और सदाचार के मार्ग पर लाने के लिए दण्ड आवश्यक है, परंतु वह दण्ड करुणा से प्रेरित हो, न कि क्रूरता से।

महर्षि दयानन्द का शिक्षा दर्शन केवल ज्ञानार्जन नहीं, बल्कि मानव निर्माण की पूर्ण प्रक्रिया है, जिसमें शिक्षक-शिष्य संबंध, नैतिक शिक्षा, और सामाजिक उत्तरदायित्व का गहरा तादात्म्य है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा को प्रत्येक मानव का जन्मसिद्ध अधिकार और माता-पिता, आचार्य तथा समाज का सर्वोच्च कर्तव्य बताया। उन्होंने शिक्षा को केवल ज्ञान प्राप्ति का साधन नहीं, बल्कि मानव-निर्माण और समाज-निर्माण का माध्यम माना।

उनके अनुसार — माता-पिता, आचार्यज़ और संबंधियों का मुख्य कार्य है कि वे सन्तानों को उत्तम विद्या, गुण, कर्म और सदाचार से युक्त बनाएं। जो व्यक्ति अपने बच्चों को ब्रह्मचर्य, शिक्षा और विद्या के माध्यम से शारीरिक व आत्मिक बल प्रदान करते हैं, वही वास्तव में धन्य हैं। उन्होंने कहा कि शिक्षा रूपी धन अमूल्य है, जिसकी

रक्षा और वृद्धि राजा और प्रजा दोनों का दायित्व है।

महर्षि ने स्त्री और पुरुष दोनों को समान रूप से बच्चों को शिक्षित करने की प्रेरणा दी। उन्होंने बालक और बालिकाओं की शिक्षा को समान रूप से आवश्यक माना। विद्वान स्त्री–पुरुष समाज के अन्य सदस्यों — जैसे भाई, बहन, सेवक, पड़ोसी आदि को भी शिक्षित कर समाज में ज्ञान और धमज़ का प्रसार करें, यह उनका मत था।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा की परिभाषा और उद्देश्य दोनों को जीवनोन्मुख, नैतिक तथा समाजोन्मुख दृष्टि से व्याख्यायित किया। उनके अनुसार — शिक्षा वही है जिससे मनुष्य विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता और जितेन्द्रियता जैसे शुभ गुणों को प्राप्त करे तथा अविद्या और दोषों से मुक्त होकर आनंदमय जीवन व्यतीत करे।

उन्होंने शिक्षा को केवल ज्ञानार्जन नहीं, बल्कि मानव के आत्मिक, नैतिक और सामाजिक उत्थान का साधन माना। उनके लिए शिक्षा का सर्वोच्च लक्ष्य था — विद्या से मनुष्य में विवेक, आत्मसंयम और धर्माचरण की वृद्धि हो तथा समाज में सच्चे वेदप्रमाण धर्म का प्रचार हो।

महर्षि ने ब्रिटिश शासन की मैकॉले शिक्षा पद्धति को देश के लिए घातक बताया क्योंकि वह भारतीय संस्कृति, भाषा और राष्ट्राभिमान को नष्ट कर रही थी। इसीलिए उन्होंने आर्ष पाठविधि या वैदिक शिक्षा पद्धति के पुनरुद्धार का आह्वान किया।

उन्होंने वेदों और शास्त्रों पर आधारित शिक्षा को ही भारत के उत्थान और सुख का मार्ग माना। संस्कृत और मातृभाषा के अध्ययन को उन्होंने आवश्यक बताया, साथ ही आधुनिक विज्ञान और अंग्रेजी के उपयोग को भी स्वीकार किया।

संक्षेप में, स्वामी दयानन्द का शिक्षा–दर्शन आध्यात्मिकता, नैतिकता, स्वदेश–प्रेम और वैज्ञानिक दृष्टि का समन्वय है। उनके अनुसार वेदों पर आधारित शिक्षा ही मानव, समाज और राष्ट्र की समग्र उन्नति का आधार बन सकती है।

(2) महर्षि अरविन्द और उनका शिक्षा दर्शन :– महर्षि अरविन्द आधुनिक भारत के ऐसे महान दार्शनिक, योगी और शिक्षाशास्त्री थे जिन्होंने वेदान्त दर्शन को व्यवहारिक रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि शिक्षा का उद्देश्य केवल बौद्धिक विकास नहीं, बल्कि मनुष्य की अन्तर्निहित शक्तियों का पूर्ण विकास होना चाहिए। उनके अनुसार शिक्षा एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है, जो व्यक्ति को आत्मबोध की ओर ले जाती है।

उन्होंने शिक्षा को सर्वांग योग का रूप बताया, जिसमें मानव के पाँचों स्तर — भौतिक, प्राणिक, मानसिक, अन्तरात्मिक और आध्यात्मिक का विकास किया जाता है।

महर्षि अरविन्द के अनुसार —

* शिक्षा बालक-केंद्रित होनी चाहिए।
* मातृभाषा में दी जानी चाहिए।
* शिक्षा बालक की मनोवृत्तियों और क्षमताओं के अनुरूप होनी चाहिए।
* उसमें शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शुद्धि का ध्यान रखना चाहिए।
* शिक्षा का उद्देश्य चरित्र, संस्कृति और आत्मबल का निर्माण होना चाहिए।

उन्होंने यह भी कहा कि शिक्षा में धार्मिक तत्व आवश्यक है, अन्यथा समाज में भ्रष्टाचार फैलता है। उनके अनुसार शिक्षा का लक्ष्य पूर्ण मानव का निर्माण है। ऐसा व्यक्ति जो अपने द्रव्य, प्राण, मन और आत्मा के सभी स्तरों को विकसित कर सके।

महर्षि अरविन्द का मत था कि सूचनाओं का संग्रह मात्र शिक्षा नहीं है, क्योंकि सूचना ज्ञान की नींव नहीं बन सकती। सच्ची शिक्षा वह है जो मनुष्य के भीतर छिपी संभावनाओं को जाग्रत करे और उसे नव-सृजन के लिए प्रेरित करे। शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान देना नहीं, बल्कि ऐसे नागरिक तैयार करना है जो कर्मठ, विवेकशील और आत्मनिर्भर हों। उन्होंने क्रमिक शिक्षण विधि पर बल दिया, जिसके अंतर्गत शिक्षण बालक की शारीरिक, मानसिक क्षमता, रुचि और अनुभव के अनुरूप होना चाहिए।

उनके शिक्षण-सिद्धान्त इस प्रकार हैं —

1. शिक्षण बालक की शारीरिक व मानसिक क्षमता और उसकी रुचि के अनुसार होना चाहिए।
2. रटने की बजाय समझने और अनुभव करने पर बल देना चाहिए।
3. बालक को क्रिया और अनुभव से सीखने के अवसर देने चाहिए।
4. बच्चों को चिन्तन, मनन और आत्मनियन्त्रण की आदत डालनी चाहिए।
5. शिक्षण प्रेम, सहानुभूति और स्वतंत्र वातावरण में होना चाहिए।

महर्षि अरविन्द के अनुसार, शिक्षा का सार इन्द्रियों के अभ्यास से प्रज्ञा का विकास करना है। इन्द्रियों का प्रशिक्षण ही व्यक्ति को सत्य का साक्षात्कार करने योग्य बनाता है।

महर्षि अरविन्द ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'द लाइफ डिवाइन' में मानव-जीवन की पूर्णता का दिग्दर्शन कराया है। उनके अनुसार विद्यार्थी के जीवन में स्थैतिक (स्थिर) और गत्यात्मक (गतिशील) दोनों तत्व आवश्यक हैं। उन्होंने मानव-स्वभाव को पाँच स्तरों में विभाजित किया भौतिक, प्राणिक, मानसिक, चैत्य (अन्त:करणीय) और आध्यात्मिक। शिक्षा इन पाँचों स्तरों का क्रमिक विकास करती है।

अरविन्द के अनुसार शिक्षक एक योगी, मनोवैज्ञानिक, विषय-विशेषज्ञ और

आध्यात्मिक रूप से प्रवीण व्यक्ति होना चाहिए। शिक्षक प्रशिक्षण नहीं, बल्कि सहायक और पथ-प्रदर्शक है। उसका कार्य केवल तथ्य बताना नहीं, बल्कि विद्यार्थी को 'अपने आपको समझने' में सहायता देना है। वह ज्ञान का प्रदाता नहीं, बल्कि ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग दिखाने वाला होता है। शिक्षण की सफलता पूरी तरह शिक्षक के व्यक्तित्व और दृष्टिकोण पर निर्भर करती है।

उन्होंने शिक्षा में तर्क-बुद्धि की भूमिका को स्वीकार किया — यह अवलोकन, तर्क, खोज और निर्णय की सहायक शक्ति है, परंतु सीमित है। तर्क का सही उपयोग सिखाना शिक्षा का प्रारंभिक लक्ष्य होना चाहिए।

अरविन्द के अनुसार आध्यात्मिक शिक्षा मानव-जीवन का अनिवार्य अंग है। विज्ञान, कला, दर्शन, मनोविज्ञान आदि विषयों को उन्होंने साधन माना जिनसे मानव 'प्रकृति और प्राण के माध्यम से भगवान की क्रियाओं' को समझ सकता है।

शिक्षा का लक्ष्य व्यक्ति की चेतना को इतना व्यापक बनाना है कि वह विश्व-कल्याण में सक्रिय योगदान दे सके। सच्ची शिक्षा व्यक्ति को आत्मसाक्षात्कार से जोड़ती है और उसे सार्वभौमिक चेतना का साधन बनाती है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1996) में भी अरविन्द के विचारों को स्वीकार करते हुए कहा गया कि शिक्षा को भारतीय संस्कृति और आधुनिक विज्ञान दोनों से जोड़ा जाना चाहिए ताकि नई पीढ़ी अपनी जड़ों से न कटे।

महर्षि अरविन्द के अनुसार प्रत्येक विद्यार्थी प्रच्छन्न रूप में सर्वशक्तिमान चैतन्य है। उनका मानना था कि शिक्षा का उद्देश्य इस अंतर्निहित दिव्य शक्ति का जागरण है। बालक के शरीर, प्राण, मन, बुद्धि और आत्मा इन सभी अंगों का समन्वित विकास ही सच्ची शिक्षा है, क्योंकि सत्ता की पूर्णता केवल शारीरिक या आत्मिक नहीं, बल्कि सर्वांगपूर्ण चेतनात्मक विकास में निहित है।

वे ऐसी शिक्षा प्रणाली के पक्षधर थे जो कलात्मक प्रशिक्षण को संस्कृति के साथ जोड़ती है, जिससे शिक्षा एक पूर्ण राष्ट्रीय व्यवस्था बनती है। उनके अनुसार विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए सत्य-ज्ञान की खोज के लिए साधना करनी चाहिए। उन्होंने पर्यावरण के प्रभाव को भी महत्त्वपूर्ण माना और कहा कि बालक को ऐसे उच्च वातावरण में शिक्षित किया जाना चाहिए जहाँ उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ विकसित हों और वह सत्य की ओर अग्रसर हो सके।

महर्षि अरविन्द का प्रमुख योगदान था — मातृभाषा में शिक्षा, मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, सामाजिक आदर्श के माध्यम से सर्वांगीण विकास।

सारांशत: श्री अरविन्द की शिक्षा-व्यवस्था आध्यात्मिकता और व्यवहारिकता दोनों का सुंदर समन्वय है। उन्होंने शिक्षा को व्यक्ति के आंतरिक प्रकाश के जागरण

का साधन माना। इसलिए उनका शिक्षा-दर्शन न केवल भारतीय शिक्षाविचार में बल्कि विश्व के शिक्षा-दर्शन में भी एक विशिष्ट और स्थायी स्थान रखता है।

(3) रवीन्द्रनाथ टैगोर और उनका शिक्षा दर्शन :- विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे—वे केवल कवि नहीं, बल्कि दार्शनिक, कलाकार और शिक्षाशास्त्री भी थे। उन्होंने शिक्षा को मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकता माना। टैगोर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को भौतिक प्रगति और आध्यात्मिक पूर्णता की ओर अग्रसर करना है।

उनके दर्शन का आधार एकत्व और समन्वय का सिद्धांत है, जिसमें तीन स्तर हैं— प्रकृति के साथ एकत्व, मानव समाज के साथ एकत्व तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का समन्वय।

टैगोर ने तत्कालीन औपचारिक, रटनेवाली शिक्षा-पद्धति की तीव्र आलोचना की और स्वतंत्र, सृजनात्मक तथा अनुभवपरक शिक्षा का समर्थन किया। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक की अंतर्निहित सृजनात्मक शक्तियों का विकास करना है, न कि केवल आजीविका कमाने की क्षमता प्रदान करना।

टैगोर के शिक्षा-दर्शन के प्रमुख सिद्धांत:

* शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से हो।
* बालक को स्वतंत्रता और आत्म-प्रकाशन के अवसर मिलें।
* शिक्षा प्रकृति की गोद में दी जाए, नगरों के कृत्रिम वातावरण से दूर।
* शिक्षा से सामाजिक चेतना, स्वशासन और सेवा-भावना विकसित हो।
* शिक्षा भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीय जीवन से जुड़ी हो, विदेशी प्रभाव से मुक्त।
* बालक को प्रत्यक्ष अनुभवों से सीखने के अवसर मिलें, न कि केवल पुस्तकीय ज्ञान।
* शिक्षा मानवता, कला और सृजनशीलता का विकास करे।

उन्होंने शांतिनिकेतन के माध्यम से एक ऐसी शिक्षा प्रणाली स्थापित की जो प्रकृति, कला, संगीत और आध्यात्मिकता के समन्वय पर आधारित थी।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने शिक्षा को क्रियात्मक, सृजनात्मक और सार्वभौमिक दृष्टिकोण से देखा। उन्होंने शान्तिनिकेतन में जो पाठ्यचर्या बनाई, उसमें भाषा, इतिहास, विज्ञान, कला और संगीत जैसे विषयों के साथ-साथ कृषि, बागवानी, भ्रमण, प्रयोगशाला कार्य, खेलकूद, नाटक, ग्रामोत्थान और समाज सेवा जैसी उपयोगी क्रियाओं को भी शामिल किया। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान देना नहीं, बल्कि उसे मानवता के कल्याण और जीवन के व्यवहार से जोड़ना है। इसीलिए विश्व-भारती

विश्वविद्यालय में उन्होंने देश-विदेश की भाषाओं, संस्कृतियों और विज्ञान की शिक्षा का समन्वय किया। टैगोर की शिक्षण प्रक्रिया के तीन आधार थे — पाठ्यक्रम, पाठन-विधि और शैक्षिक वातावरण, जिनके माध्यम से उन्होंने शिक्षा को जीवनोपयोगी और वैश्विक बनाया।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने शिक्षा को आत्माभिव्यक्ति, स्वतंत्रता, सृजनात्मकता और प्रकृति-संलग्नता पर आधारित माना। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक को अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार विकसित होने का अवसर देना तथा शिक्षक-छात्र के बीच स्नेह और सद्भाव का वातावरण बनाना है। टैगोर का विश्वास था कि शिक्षक सदैव ज्ञानार्जन और नये अनुभवों की खोज में तत्पर रहे।

उन्होंने विश्व-भारती विश्वविद्यालय के माध्यम से मानववाद, विश्व-एकता, सौन्दर्य-बोध, सृजनात्मकता और प्राकृतिक जीवन के आदर्शों को मूर्त रूप दिया। उनका शिक्षा-दर्शन आदर्शवाद और समन्वयवाद से युक्त था, जिसमें भारतीय परंपरा और आधुनिक जीवन का संतुलन था। टैगोर के विचार और प्रयोग आज भी भारतीय शिक्षा के पुनर्गठन के लिए प्रेरणास्रोत हैं। सार रूप में, उनकी शिक्षा का लक्ष्य पूर्ण मानव का निर्माण और जीवन की समग्रता की प्राप्ति है।

(4) महात्मा गांधी और उनका शिक्षा दर्शन :- महात्मा गांधी केवल राजनैतिक नेता नहीं, बल्कि महान शिक्षा-दर्शनशास्त्री और समाज सुधारक भी थे। उन्होंने शिक्षा को मानव निर्माण और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का साधन माना। उनके विचारों का आधार अनुभव, श्रम और नैतिकता था।

गांधीजी के शिक्षा-विचार उनकी पुस्तकों 'बेसिक एजुकेशन' (1951) और 'टुवर्ड न्यू एजुकेशन' में संकलित हैं। उनका प्रमुख लक्ष्य ऐसी शिक्षा देना था जो मातृभाषा में, निःशुल्क, उत्पादक कार्यों से जुड़ी और धर्मनिरपेक्ष हो।

1937 के वर्धा सम्मेलन में उन्होंने यह स्पष्ट किया कि शिक्षा केवल पुस्तकीय न होकर कर्मप्रधान और चरित्र-निर्माण करने वाली होनी चाहिए। गांधीजी का शिक्षा-दर्शन व्यक्ति के सर्वांगीण विकास — शरीर, मन और आत्मा पर आधारित था और उनका उद्देश्य था एक स्वावलम्बी, नैतिक और कर्मठ नागरिक का निर्माण करना।

महात्मा गांधी के शिक्षा-दर्शन पर टालस्टॉय और रस्किन का गहरा प्रभाव था। टालस्टॉय की "The Kingdom of God is Within You" और रस्किन की "Unto the Last" ने गांधीजी के जीवन और विचारों की दिशा ही बदल दी। रस्किन की पुस्तक से प्रेरित होकर उन्होंने उसका गुजराती अनुवाद 'सर्वोदय' नाम से किया, जिससे उन्हें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'सर्वे सुखिनः सन्तु' की भावना को बल मिला।

गांधीजी की शिक्षा ग्रामीण जीवन और स्वावलम्बन पर आधारित थी। उनका

मानना था कि शिक्षा उत्पादक कार्यों और आर्थिक जीवन से जुड़ी होनी चाहिए। उन्होंने हस्तकला, तकली से कताई, गणित और श्रम को शिक्षा का अनिवार्य अंग माना।

गांधीजी का शिक्षा-दर्शन सत्य, अहिंसा और नैतिकता पर आधारित था। उन्होंने सत्य को जीवन का सर्वोच्च साध्य माना और साधन की पवित्रता को साध्य की पवित्रता के समान समझा।

उनके विचारों का आधार उनके एकादश व्रतों — अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, शरीर श्रम, अस्वाद, अभय, सर्वधर्म समभाव, स्वदेशी और अस्पृश्यता निवारण में निहित था।

गांधीजी के अनुसार — "शिक्षा का उद्देश्य बालक में निहित शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का सर्वांगीण विकास करना है।"

महात्मा गांधी ने शिक्षा को चरित्र-निर्माण और सर्वांगीण विकास का साधन माना। उनके अनुसार शिक्षा के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

(1) चरित्र-निर्माण प्रमुख उद्देश्य :- गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में कहा कि शिक्षा का प्रथम लक्ष्य संस्कृति और चरित्र का निर्माण होना चाहिए।

(2) मस्तिष्क और हृदय का संतुलन :- शिक्षा के माध्यम से बुद्धि और भावना दोनों का विकास हो, ताकि विद्यार्थी समाज के आदर्शों को समझ सके।

(3) सामाजिक एवं आध्यात्मिक उन्नति :- शिक्षा का लक्ष्य केवल भौतिक प्रगति नहीं, बल्कि सभी के कल्याण और आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा होना चाहिए।

(4) शिक्षक-छात्र संबंध :- गांधीजी ने इस संबंध को आत्मिक और सजीव माना। वेतन या स्वार्थ से जुड़ा अध्यापन उनके अनुसार अशुद्ध और निष्फल है; शिक्षक का जीवन ही विद्यार्थी का वास्तविक पाठ्यपुस्तक है।

(5) जीवन ही शिक्षा है :- गांधीजी के अनुसार जीवन और शिक्षा एक-दूसरे से अलग नहीं हैं; शिक्षा को जीवन के अनुभवों और श्रम से जुड़ा होना चाहिए।

उन्होंने शिक्षा के पाँच घटकों का उल्लेख किया— (1) स्वास्थ्य और स्वच्छ जीवन, (2)सांस्कृतिक गतिविधियाँ, (3) बुनियादी दस्तकारी, (4) नागरिक जीवन, और (5) सर्वोदय भावना।

महात्मा गांधी ने शिक्षा को जीवन और उत्पादन से जोड़ा, जिससे विद्यार्थी केवल ज्ञानवान नहीं, बल्कि कर्मशील और आत्मनिर्भर नागरिक बन सके। उनके शिक्षा-दर्शन की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(1) उत्पादन से जुड़ी शिक्षा :- गांधीजी ने शिक्षा को उत्पादक कार्यों , विशेषकर खादी और हस्तकला प्रशिक्षण से जोड़ा। उनके अनुसार यही व्यावहारिक

ज्ञान की आधारशिला है।

(2) अनुभव आधारित शिक्षा :- उन्होंने कहा कि ज्ञान अनुभव से ही उत्पन्न होता है, अतः पाठ्यक्रम का आधार व्यावहारिक जीवन और श्रम होना चाहिए।

(3) लोकतांत्रिक अनुशासन :- शिक्षा में दमनात्मक अनुशासन के स्थान पर सामाजिक दबाव और आत्मानुशासन को स्थान दिया गया।

(4) आध्यात्मिकता और संस्कृति का समन्वय :- गांधीजी की शिक्षा का मूलाधार आध्यात्मिक विकास और सांस्कृतिक प्रशिक्षण है, जिसमें शिक्षक ऋषि तुल्य और शिक्षा एक संस्कार प्रक्रिया मानी जाती है।

(5) किताबी ज्ञान का विरोध :- उन्होंने सैद्धांतिक शिक्षा को अपर्याप्त बताया और जीवनमूलक, व्यावहारिक शिक्षा को प्राथमिकता दी।

(6) राष्ट्रीयता और ग्राम स्वराज :- उनकी शिक्षा में राष्ट्रभाषा, चरित्र निर्माण, ग्राम उत्थान और स्वराज की भावना निहित थी।

गांधीजी का शिक्षा-दर्शन 'हिन्द स्वराज' में स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। उन्होंने शिक्षा को केवल ज्ञान प्राप्ति का साधन नहीं, बल्कि राष्ट्रीय पुनर्जागरण और आत्मनिर्भरता का आधार माना। गांधीजी का मानना था कि सच्ची शिक्षा वही है जो व्यक्ति के मन, शरीर और आत्मा—तीनों का विकास करे। वे विदेशी शिक्षा-पद्धति के विरोधी थे क्योंकि उसमें भारतीय संस्कृति, नैतिकता और आत्मगौरव का स्थान नहीं था।

गांधीजी के अनुसार शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिए। उन्होंने लिखा कि यदि कोई भारतीय युवक अपनी मातृभाषा को पढ़ या बोल नहीं सकता तो यह उसके लिए शर्म की बात है। अपनी भाषा के प्रति उपेक्षा राष्ट्र के प्रति उपेक्षा के समान है। अंग्रेजी के प्रभाव में जो भारतीय अपनी भाषा और संस्कृति से दूर हो रहे थे, उन्हें गांधीजी ने सचेत किया कि वे एक वैश्विक धार्मिक सिद्धांत अपनी मातृभूमि और मातृभाषा के प्रति श्रद्धा को भूल रहे हैं।

वे ऐसी शिक्षा-पद्धति के पक्षधर थे जो देशी भाषाओं, पारंपरिक शिक्षण प्रणालियों, और नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित हो। उनके अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य केवल रोजगार प्राप्त करना नहीं, बल्कि चरित्र निर्माण, आत्मनिर्भरता और मानवता का विकास होना चाहिए।

अंततः, गांधीजी ने 'हिन्द स्वराज' के माध्यम से नवयुगीन भारत के लिए ऐसी शिक्षा का मार्ग प्रशस्त किया जो भारतीय संस्कृति में निहित नैतिकता, स्वविवेक, न्याय और मानव की दिव्यता पर आधारित थी। उनकी शिक्षा-दृष्टि आज भी मूल्याधारित शिक्षा की आधारशिला मानी जाती है।